P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-1* (Part-2) April- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

श्रीमद्भगवद् गीता में समाज, राष्ट्र व स्वधर्म : एक अवलोकन

अंजु शर्मा
विभागाध्यक्ष,
इतिहास विभाग,
एस.एस. जैन सुबोध गर्ल्स पी. जी. कॉलेज,
सांगानेर, जयपुर,
राजस्थान, भारत

सारांश

श्रीमद्भगवद् गीता अर्थात् भगवान का गाया हुआ ज्ञान। वैसे तो यह बहुत संक्षिप्त ग्रंथ है, परंतु गीता सर्वशास्त्रमयी है। यह किसी विशेष धर्म, जाति या व्यक्ति के लिए नहीं, वरन् मानव मात्र के लिए उपयोगी है। यह ग्रंथ व्यक्ति तथा समाज की, राष्ट्र तथा विश्व की, समस्त समस्याओं के मानवीय समाधान के लिए श्रेष्ठ मार्गनिर्देशन करती है। गीता में मनुष्य जीवन का प्रयोजन नर से नरोत्तम अथवा पुरूष से पुरूषोत्तम होना है। ऐसी अवधारणा जिस समाज में होगी, वह राष्ट्र कभी अवनति की ओर नहीं जा सकता। अर्थव्यवस्था का दृढ़ होना तथा न्याय पर आधारित होना समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। समाज की उन्नति सभी अंगों के समाज विकास तथा परस्पर सहयोग पर आधारित है। कर्मयोग के अंतर्गत स्वधर्म पालन करना अर्थात् अपना स्वाभाविक कर्म करना, भगवान की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। अतएव भगवद्गीता ने राष्ट्र व समाज के बहुआयामी विकास के साथ ही एक हितकारी संदेश देकर हमारा समुचित मार्गदर्शन भी किया है।

मुख्य शब्द : वाङमयी, माहात्म्य, त्रिपुटी, समत्व योग, मदांध, लोक विग्रह, लोक संग्रह, स्तंभवृति, सर्वभूत हितेरता, यंत्रारूढ़, प्रारब्ध, दुष्कालादि।

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद् गीता भारतीय वाङमय का अपूर्व ग्रंथ है। इस ग्रंथ की पृष्ठभूमि महाभारत का युद्ध है। कुरूक्षेत्र की युद्धभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, वह 'श्रीमद्भगवद् गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाभारत के 'भीष्मपर्व' का अंग है। गीता में 18 अध्याय और 700 श्लोक है, जैसा गीता के 'शंकर–भाष्य' में कहा है–

तं धर्म भगवता यथोपदिष्ट वेदव्यासः
सर्वज्ञोभगवान गीतारव्यै सप्तभि श्लोकशतैरू पनिबंध।।

भारतीय परंपरा के अनुसार गीता का स्थान वही है जो उपनिषद और ब्रह्मसूत्र का है। तत्वज्ञान का सुसंस्कृत काव्यशैली के द्वारा वर्णन गीता का निजी सौरभ है, इसीलिए इसका नाम भगवदगीता पडा, 'भगवान का गाया हुआ ज्ञान'। 'भागवत माहात्म्य' में कहा गया है कि यह वेदरूप कल्पवृक्ष का परिपक्व फल है, जो अमृत रस से परिपूर्ण है। यह भगवान की साक्षात् वाङमयी मूर्ति है।[1] गीता किसी धर्म विशेष, जाति या व्यक्ति के लिए नहीं वरन् मानव मात्र के लिए उपयोगी एवं हितकारी हैं। चाहे किसी भी देश, वेष, समुदाय, संप्रदाय, जाति, वर्ण या आश्रम का व्यक्ति क्यों न हो, गीता में मनुष्य मात्र की उन्नति के लिए मार्गदर्शन है। गीता का परम लक्ष्य है, मानव मात्र का कल्याण। कनाड़ा के प्रधान मंत्री श्रीमान् पीअर टुड्रो ने कहा कि ''मैंने बाइबिल पढी, एंजिल पढ़ा, परंतु श्रीमद्भगवद् गीता रूपी ग्रंथ अद्भुत है, जिसमें किसी भी मत, मजहब, पंथ, समुदाय की निंदा स्तुति नहीं, अपितु इसमें तो मनुष्य मात्र के विकास की बात है। स्वस्थ शरीर, प्रसन्न मन और बुद्धि में समत्व योग, ऐसी त्रिपुटी किसी भी धार्मिक ग्रंथ में नहीं है। गीता केवल हिन्दुओं का ही नहीं, मानव मात्र का धर्मग्रंथ है।''

शोध का उद्देश्य

भगवदगीता चूंकि एक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथ के रूप में जानी जाती है, परंतु इस ग्रंथ की महत्ता ये है कि ये मानव मात्र के लिए कई दृष्टि से उपयोगी एवं हितकारी है। इस आलेख को लिखने का मेरा उद्देश्य यह रहा है कि राष्ट्र, समाज और मानव मात्र के लिए इस ग्रंथ में क्या उपयोगी वर्णन है। अतएवं ऐतिहासिक दृष्टि से इस संबंध में अन्वेषण करना ही मेरा प्रमुख ध्येय रहा

है। साथ ही गीता आज के संदर्भ में मानव मात्र को किस प्रकार प्रेरित, निर्देशित एवं मार्गदर्शन करती है, यह संकेत भी शोध का प्रमुख लक्ष्य रहा है। आज देश इस परिस्थिति में है कि उसे हर क्षेत्र में अर्जुन चाहिए। जो अपने कर्मो को हर स्तर पर पूरी निपुणता से निभाए। हमारे पास वो महान ग्रंथ भगवद्गीता है जो खुद को पवित्र बनाना तथा स्वधर्म पालन सिखाता है; जिसके पालन से समाज का कल्याण हो सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नां स्वर्गद्वारमपावृतम।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।

भगवदगीता 2/32

यह श्लोक उस समय में अर्जुन के समक्ष परिस्थितियों को बतलाता है। आज भी युद्ध की वही स्थिति हमारे समक्ष है। आज देश की परिस्थितियां कहीं ना कहीं उसी प्रकार है।

माहात्म्य

गीता में मानव से महामानव बनाने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। गीता की आवश्यकता केवल अर्जुन को ही थी, ऐसी बात नहीं है, हम सब भी युद्ध मैदान में ही है। अर्जुन ने न तो केवल थोड़े समय ही युद्ध किया परंतु हमारा तो संपूर्ण जीवन काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, अपना–पराया रूपी युद्ध के बीच में है, अतः अर्जुन को गीता के उपदेशों की जितनी आवश्यकता थी, शायद उससे भी कहीं अधिक आज के मनुष्य को उसकी जरूरत है। श्री वेदव्यास जी ने गीता के वर्णनोपरांत कहा है–

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पदमनाभस्य मुखपदमाद्विनिः सृता।।

अर्थात् गीता सुगीता करने योग्य है अर्थात् श्री गीता को भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अंतःकरण में धारण कर लेना मुख्य कर्त्तव्य है, जो कि स्वयं श्री पद्मनाभ विष्णु भगवान के मुखाराविन्द से निकली हुई है (फिर) अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है।

समाज, राष्ट्र एवं राजधर्म

राष्ट्र अनेक भिन्नताओं का एक भौगोलिक सीमा में एकीकरण है। राष्ट्र की एकल इकाई एक व्यक्ति विशेष है, जो उस राष्ट्र की सीमा में व्याप्त है। एक से दो होते ही परिवार का गठन हो जाता है और ऐसे ही बहुत से परिवार मिलकर समाज का रूप ले लेते हैं, ऐसे भिन्न–भिन्न मत के समाज भिन्न–भिन्न भाषाओं, भिन्न–भिन्न विचारों को लेकर स्वीकृत होने से जिस वृहत्त समाज का निर्माण होता है, उसे राष्ट्र कहते है। राष्ट्र में रहने वाले हर व्यक्ति का अच्छा या बुरा योगदान राष्ट्र की उन्नति या अवनति का कारण होता है। 'भागवत' में समाज व राष्ट्र की दयनीय स्थितियों का चित्रण करते हुए धर्म, न्याय, ज्ञान, शिक्षा, राजनीति व आचार–व्यवहार में व्याप्त आडम्बर, भ्रष्टाचार व अन्याय को उजागर किया गया है। राजा परीक्षित के माध्यम से व्यास जी ने राजधर्म व राष्ट्रधर्म के निर्वाह का संदेश दिया है। परीक्षित कहते है–राजाओं का परम धर्म यही है कि वे दुखियों के दुख को दूर करें और मर्यादा का उल्लंघन करने वाले को शास्त्रानुसार दण्ड देते हुए अपने धर्म स्थित लोगों का पालन करें।[2] भागवत के द्वादश स्कन्ध में परीक्षित के पूछने पर शुकदेव जी ने घोर कलियुग का चित्र खींचते हुए धनबल व बाहुबल के कारण धर्म, न्याय, समाज व राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर किया है– ''कलियुग में जिसके पास धन होगा उसी को लोग कुलीन, सदाचारी और सद्गुणी मानेगें। जिसके हाथ में शक्ति होगी वही धर्म और न्याय की व्यवस्था अपने अनुकूल करा सकेगा। जो घूस देने या धन खर्च करने में असमर्थ होगा, उसे अदालतों से ठीक–ठीक न्याय नही मिल सकेगा। असाधुता का दोषी होने की एक ही पहचान रहेगी, गरीब होना।[3] धर्म में व्याप्त कर्मकाण्ड, आडम्बर व पाखण्ड के सबंध में स्पष्ट कहा गया है–''धर्म का सेवन यश के लिए किया जाएगा। ब्राहम्ण की पहचान उसके गुण स्वभाव से नहीं यज्ञोपवीत से हुआ करेगी। वर्ण ओर आश्रमों का धर्म बतलाने वाला वेद मार्ग नष्टप्राय हो जाएगा। धर्म में पाखण्ड की प्रधानता हो जाएगी।''[4] भ्रष्ट शासक व कुटिल राजनीति के सबंध में कहा गया है कि– ''जब सारी पृथ्वी पर दुष्टों का बोलबाला हो जाएगा, तब राजा होने का कोई नियम न रहेगा। उस समय के राजा अत्यंत निर्दय एवं क्रूर होगें, लोभी तो इतने होंगे कि उनमें और लुटेरों में कोई अंतर न किया जा सकेगा। वे प्रजा की पूँजी एवं पत्नियों तक को छीन लेगें।'' ये वाक्य आज की स्वार्थपूर्ण राजनीति के अन्तर्गत व्याप्त लोभ–लालच, अनेक घोटालों व अमानवीय आचरण पर कितने खरे उतरते हैं, यह हम सबके लिए विचारणीय है। समाज में लोगों की ओछी मनोवृत्ति और दुष्प्रवृत्तियाँ एवं धन की लिप्सा में मदांध व्यापारियों के सबंध में भागवत में कहा गया है–''व्यापारियों के हृदय अत्यंत क्षुद्र हो जाते हैं। वे कौड़ी–कौड़ी से लिपटे रहते हैं और छदाम–छदाम के लिए धोखाधड़ी करने लगते हैं।''[5] इस ग्रंथ के कई प्रसंगों में तत्कालीन समाज व राष्ट्र की स्थितियों को देखकर हम उन पर वर्तमान में भी विचार कर सकते हैं एवं समुचित दिशा–बोध भी प्राप्त कर सकते हैं।

कल्याणकारी आदर्श राज्य एवं समाज

भागवत में राजा पृथु एवं भगवान के अवतार ऋषभदेव तथा राजा भरत आदि राजाओं के शासनकाल के वर्णन द्वारा कल्याणकारी आदर्श राज्य का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ में राजा व प्रजा के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है एवं इसमें हमारे समाज व राष्ट्र–धर्म का संदेश भी दिया गया है। राजा पृथु के गुणों के संबंध में कहा गया है कि ''वे पिता के समान प्रजा के पालन–पोषण की व्यवस्था में लगे हुए थे। सूर्य जिस प्रकार गरमी में पृथ्वी का जल खींचकर वर्षाकाल में उसे पुनः पृथ्वी पर बरसा देता है तथा अपनी किरणों से सबको ताप पहुँचाता है, उसी प्रकार वे कर रूप से प्रजा का धन लेकर उसे दुष्कालादि के समय मुक्त हस्त से प्रजा के हित में लगा देते थे। प्रजाजनों को तृप्त करने के लिए वे धन को मेघ के समान उनके अभीष्ट जन खुले हाथ से लुटाते रहते थे। महाराज पृथु दुष्टों के दमन में यमराज के समान, आश्चर्यपूर्ण वस्तुओं के संग्रह में हिमालय के समान, कोश की समृद्वि में कुबेर के समान और धन को छिपाने में वरूण के समान थे।[6] इन कथनों को यदि हम आज की राजनीति पर लागू करके देखें तो कितना विपरीत परिदृश्य सामने आता है। हमारे कई शासक

राष्ट्रीय कोष को समृद्ध करने की अपेक्षा उसे निजी हित में खाली करने में लगे हुए हैं। इससे प्रतीत होता है कि राष्ट्र में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अच्छा या बुरा योगदान राष्ट्र की उन्नति या अवनति का कारण होता है। वास्तव में गीता मनुष्य मात्र की उन्नति का मार्गप्रशस्त करती है और प्रजा, राष्ट्र को चहुँमुखी विकास की ओर ले जाने में सक्षम है।

भगवद् गीता में जिस सार्वजनिक समत्व योग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, उसमें देशभेद, राष्ट्रभेद, राज्यभेद, कालभेद आदि किसी भी प्रकार के भेद की गुंजाइश नहीं है। यह तो सदा एवं सर्वदा समस्त मानव समाज के लिए हितकर ग्रंथ है और भगवान श्री कृष्ण ने इसमें निहित ज्ञान को विज्ञान के रूप में प्रतिपादित किया है।[8]

आधुनिक समाजवाद का दार्शनिक सिद्धान्त द्वंदात्मक भौतिक जड़वाद पर आश्रित है और व जड़तत्व (Matter) को ही संसार को आदि और अन्तिम सत्ता मानता है। किंतु गीता शाश्वत समाज विज्ञान के दर्शन, अध्यात्ममूलक, अद्वैतवाद पर आश्रित है। आधुनिक भौतिकवाद में समाज को खण्ड–खण्ड में विभाजित किया हुआ है, जहाँ व्यक्ति अपने निजी उन्नति एवं स्वार्थ के लिए ही जीवन भर प्रयत्न करता है, परंतु गीता का समाज–विज्ञान व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर कर्म करना सिखाती है एवं समाज में एक दूसरे वर्ण के प्रति सेवाभाव से, राष्ट्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है। गीता में मनुष्य जीवन का प्रयोजन नर से नरोत्तम अथवा पुरूष से पुरूषोत्तम होना है।[7] ऐसी अवधारणा जिस समाज में होगी, वह राष्ट्र कभी अवनति की और नही जा सकता। गीता में समाज की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए शिक्षा, रक्षा, वाणिज्य और सेवा का कार्य विभाग किया गया है, जिसे वर्णव्यवस्था का नाम दिया गया। गीता की वर्ण व्यवस्था जन्मजात अधिकारों पर अवलम्बित नहीं हैं अपितु मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर निर्मित किया गया है।[8] आधुनिक समाज का भौतिक जड़वाद वर्ग–व्यवस्था को जन्म देता है और वर्ग व्यवस्था लोक–विग्रह (फूट, कलह, युद्ध आदि) उत्पन्न करती है और गीता की वर्ण व्यवस्था लोक–संग्रह (एकता, प्रेम, शांति) बनाए रखती है यह सबको एक ही कुटुम्ब की तरह आपस में मिलकर प्रेम तथा सुख–शांति पूर्वक जीवन यापन करने की व्यवस्था करती है। वर्ग व्यवस्थाऐं बदलती रहती है और उनके साथ ही समाज की वर्गमूलक व्यवस्थाओं के आदर्श भी बदलते रहते हैं और ये व्यवस्थाऐं समाज को कभी भी सर्वश्रेयस् लक्ष्य की ओर ले जाने में असफल नहीं रहती हैं।

वर्णव्यस्था चाहे जिस युग की हो वह किसी भी रूप में स्वार्थो की खींचातानी में लिप्त नहीं होती वरन् प्रत्येक वर्ण अपनी अपनी सीमा में रहते हुए समाज के दूसरे वर्णों से भाई–चारा रखते हुए अपना कार्य संपादन करते हैं। गीता में सामाजिक मनुष्यों को एक दूसरे के सुख दुख की वेदनाऐं अपने ही समान समझने के नैतिक आदर्श को सबके लिए समान रूप से पालन करने का विधान किया गया है।[9] स्वकर्म करने का प्रावधान इन्हीं प्राकृतिक स्वभाव जनित कार्य करने के लिए गीता में कहा गया है। वर्ण–व्यवस्था मूलतः मनुष्य के शरीर से समानता रखती है। हमारे मस्तिष्क में जहां ज्ञान–अज्ञान का विवेचन होता है, उसे वर्ण–व्यवस्था में ब्राह्मण कहा गया है। हमारे हाथ, हमारे शरीर की रक्षा एवं इसके पोषण के कार्यो में सहायता करते है, जिन्हें वर्ण–व्यवस्था में क्षत्रिय की संज्ञा दी गई है, इसी प्रकार उदर जो शरीर को पोषण देता है, वैश्य कहा गया है और पैरों को जो समस्त शरीर का भार वहन करके शरीर की सेवा करते है, उन्हें शुद्र रूप में कहा गया है। वर्तमान कालीन वर्ण–व्यवस्था जातीय आधारित है और गीता में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जातीय आधारित वर्णव्यवस्था मनु के हजारों वर्षो बाद स्वार्थी तत्वों के द्वारा गढ़ी गई।

स्वधर्म विवेचना

स्वधर्म का विवेचन करने के लिए हमें यह समझना जरूरी होगा कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है? गीता में प्रतिपादित स्वधर्म एक प्रकार से जन्मजात नैसर्गिक एवं प्राकृतिक रूप से व्यक्ति को स्वीकार्य एवं सामाजिक व्यवस्था का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करने की विधि है, जिसमें मनुष्य को स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति के साथ पारिवारिक सामाजिक उन्नति के लिए मार्गदर्शन दिया गया है। गीता का कर्मयोग आज के वातावरण में यदि व्यक्ति एवं समाज ग्रहण करके उसका पालन करे तो इस कलियुग में भी सतयुग की भावना आ सकती है। गीता को लोग ऐसा मानने लगे है जैसे यह सन्यासियों के लिए बनी है, परंतु यह भ्रामक धारणा है। श्रीकृष्ण ने गीता का प्रवचन किया ही इसलिए था कि अर्जुन मोहवश अपने क्षत्रिय धर्म रूपी कर्म को त्याग बैठा था और भगवान कृष्ण ने कर्म करना अति–आवश्यक है इस बात को अर्जुन के सम्मुख ज्ञानयोग, कर्म–योग, भक्तियोग एवं समत्व योग का वर्णन करते हुए समझाया था। अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण ने बताया कि कर्मयोग की प्रमुखता मनुष्य जन्म की सफलता के लिए अति आवश्यक है। उन्होंने कहा कि मेरे बार–बार अवतार लेने का भी यही कारण है।[10]

उन्होने अर्जुन को समझाया कि सर्ग के आरम्भ में पितामह ब्रह्मा जी ने यज्ञ रूपी कर्तव्य कर्मो के सहित मनुष्यों की रचना करके उनसे यही कहा था कि तुम लोग इस कर्तव्य कर्म रूपी यज्ञ के द्वारा बुद्धि को प्राप्त हो।[11] गीता में कर्म को 'यज्ञ' शब्द से परिभाषित किया गया है और मनुष्य सदैव ही कुछ न कुछ करता ही रहता है, कर्म किए बिना कोई मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता। कर्तव्य कर्मो को निम्न प्रकार से गीता में परिभाषित किया गया है। ऐसा यज्ञ (कर्म) जिसमें संपूर्ण कर्ण–उपकर्ण, सामग्री, क्रिया, कर्ता आदि ब्रह्म स्वरूप हो जाते है वह 'ब्रह्म यज्ञ' है, जिसमें संपूर्ण पदार्थ, क्रिया आदि मेरे अर्पण हो जाते है वह 'भगवदर्पणरूप' 'यज्ञ' है, जिसमें साधक स्वंय को ब्रह्म में एक कर देता है वह 'अभिन्नतारूपीयज्ञ' है, जिसमें साधक संपूर्ण इंन्द्रियों का संयम कर उनको अपने–अपने विषयों से हटा लेता है, वह 'संयम रूपी' यज्ञ है। जिसमें साधक रागद्वेष रहित इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता है वह विषय, हवनरूपी 'यज्ञ' है। प्राणों,

इन्द्रियों और मन की क्रियाओं को रोककर बुद्धि की जागृति रहते हुए निर्विकल्प हो जाना 'समाधिरूपी यज्ञ' है। लोकोपकार के लिए स्वयं का धन व्यय करना 'द्रव्य यज्ञ' है। स्वधर्म का पालन करने में जो कठिनाई आती है, उसको प्रसन्नता पूर्वक सहना 'तपोयज्ञ' है। कार्य की सिद्धि एवं असिद्धि में तथा फल की प्राप्ति और अप्राप्ति में सम् रहना 'योगयज्ञ' है। शतशास्त्रों का पठन–पाठन तथा नाम–जपादि करना 'स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ' है। पूरक, कुंभक और रोचक पूर्वक प्राणायाम करना 'प्राणायाम्रूप यज्ञ' है। नियमित आहार करते हुए प्राणों को अपने अपने स्थानों में रोक देना 'स्तम्भ्वृति प्राणायाम्रूप यज्ञ' है।[12] कर्मयोग की आवश्यकता को भगवान कृष्ण ने गीता में इस प्रकार प्रकट किया है, ''अपने धर्म(कर्तव्य) का पालन करना चाहिए, गुणों की कमी वाला भी स्वधर्म श्रेष्ठ है, स्वधर्म का पालन करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाए तो वह कल्याणकारी ही है, परंतु दूसरों का धर्म कितना भी गुणवत्ता वाला हो भय को देने वाला ही होता है।[13] 'स्वधर्म' में जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदा आदि के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शुद्र और म्लेच्छ आदि का सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होने से अपने में होने वाले सुख और दुख को समान ही देखता है, वैसे ही समाज के चारों वर्णों में देखता हुआ, स्वधर्म का पालन करें और ऐसे समदृष्टि वाले स्वधर्मी कर्तव्यकर्ता को भगवान ने योगियों में श्रेष्ठ माना है।[14] गीता में शुभकर्म करने वाले को ''सर्वभूत हितेरता'' दृष्टिकोण का पालन करते हुए ही स्वधर्म निभाने का आदेश दिया है। समाज के प्रति ऐसा व्यापक दृष्टिकोण किसी और धर्मग्रंथ में नहीं है।

स्वधर्म पालन के लिए भगवान् कृष्ण ने कर्मो के दो विभाग किए हैं प्रथम, दैवी सम्पदा[15] एवं द्वितीय आसुरी संपदा[16]। दैवी संपदा वाले मनुष्य के लक्षण होते है, स्वंय में ही दृढ़ निश्चय, प्रत्येक परिस्थिति में सम रहना, सात्विक दान देना, इन्द्रियों को वश में करना, स्वकर्तव्य का पालन करना, तन, मन, वाणी की सरलता एवं इनके द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट ना पहुंचाना, सब प्राणियों को मेरा स्वरूप (ईश्वर का) समझकर किसी पर क्रोध ना करना, संपूर्ण प्राणियों पर दयाभाव रखना, कर्त्तव्य करने में लज्जित ना होना, प्रत्येक परिस्थिति में धैर्य रखना, प्रतिशोध की भावना न होना, अपने में श्रेष्ठता का भाव न होना आदि। इसी प्रकार आसुरी संपत्ति वाले मनुष्य के लक्षण बताए गए हैंः–दंभ करना, घमंड करना, अहंतावाली चीजों को लेकर अभिमान करना, क्रोध करना, मन–वाणी एंव बर्ताव में कठोरता रखना एवं कर्त्तव्य अकर्त्तव्य आदि के विवेक को महत्त्व न देना आदि। अर्जुन को दैवी और आसुरी संपदा के लक्षण इसीलिए बताए गए कि गीता के इस ज्ञान को विचारकर मनुष्य स्वधर्म का पालन करें। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का चुनाव स्वयं करे और स्वयं की एवं समाज की उन्नति के लिए दैवी संपदा के गुणों का आश्रय ले।[17]

श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे–''कर्म में रत रहना जीवन का लक्ष्य नहीं है। कर्म परमेश्वर प्राप्ति का साधन है। निष्काम कर्म मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाता है। साधन को साध्य नहीं समझना चाहिए। नगर की ओर ले जाने वाला मार्ग नगर नहीं होता।'' श्री रामकृष्ण परमहंस ज्ञान और भक्ति के समन्वय के प्रतीक थे। बुद्धियोग (समत्व बुद्धियोग) कर्मयोग के अन्तर्गत उसका प्रमुख अंग है। बुद्धियोग अर्थात् समत्वभाव द्वारा मन को स्थिरता प्राप्त होती है। भगवान समस्त सृष्टि का संचालन कर रहे हैं तथा मैं निमित्त मात्र हूँ, ऐसी भावना से भगवतप्रेरणा निष्काम होकर कर्म करते हुए लाभ–हानि, जय–पराजय एवं सुखःदुःख में सम् अर्थात् संतुष्ट एवं स्थिर रहना समत्वबुद्धि है।[18] कर्मयोगी व्यक्तिगत कामना तथा हठ अथवा दुराग्रह नहीं करता। वह चित्त को निरन्तर भगवान में समाहित करने का प्रयत्न करता रहता है।[19] श्री रामकृष्ण परमहंस कहते थे–''कोई कितना भी प्रयत्न कर ले, बिना भगवत्कृपा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। भगवत्कृपा सरलता से प्राप्त नहीं होती। उसके लिए अहंकार का त्याग आवश्यक है। मैं कर्त्ता हूँ, यह अहंकार मनुष्य को परमेश्वर से दूर कर देता है। परमेश्वर हदृय में रहकर भी अहंकार के कारण नहीं दीखता।''

परमेश्वर ही अर्न्तयामी एवं विश्वविनायक के रूप में हदृय क्षेत्र में विराजमान है तथा माया शक्ति द्वारा प्राणियों को उनके कर्मानुसार घुमाता अथवा नचाता रहता है जैसे सूत्रधार कठपुतलियों को नचाता है (उमा दारू योषित की नाई, सबहिं नचावत राम गुसाँई) मनुष्य अपने कर्मानुसार फल पाता है तथा ईश्वर कर्मानुसार फलभोग देता है। मनुष्य न्यायालय में भी कर्मानुसार मुक्ति अथवा दण्ड पाता है किंतु कहता है कि न्यायाधिकारी ने मुक्ति दी अथवा दण्ड दिया। [20] सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म और प्रारब्ध के अनुसार यंत्रारूढ़ की भांति भ्रमित होता रहता है, किंतु भगवान को आत्मसमर्पण कर देने वाले पुरूषों के जीवन का संचालन भगवान स्वयं करते हैं।[21]

भगवद्गीता का प्रथम श्लोक प्रस्तावना के रूप में समस्त गीतोपदेश को एक झलक में प्रदर्शित कर देता है तथा अंतिम श्लोक उपसंहार के रूप में उसके सार तत्व को प्रस्तुत कर देता है। प्रथम श्लोक में घृतराष्ट्र संजय से प्रश्न करता है तथा अन्तिम श्लोक में संजय धृतराष्ट्र से अपना मत कहता है। भगवद् गीता के प्रथम श्लोक का प्रथम शब्द है 'धर्म' तथा अन्तिम श्लोक का अन्तिम शब्द है–मम्! 'धर्म मम' अर्थात् स्वधर्म पालन गीता का महान् संदेश है। मनुष्य स्वधर्म का सम्यक पालन करने पर ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है। कृष्णतत्व गूढ़ है।[22] जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वधर्म पालन भगवत्प्राप्ति का उत्तम साधन है।

निष्कर्ष

भगवद् गीता व्यक्ति तथा समाज की, राष्ट्र तथा विश्व की समस्त समस्याओं के मानवीय समाधान के लिए श्रेष्ठ मार्गनिर्देशन करती है। साधारण मनुष्य अहंकार तथा अहंकार से उत्पन्न कामना द्वारा कर्म में प्रवृत होता है तथा अहंकार संतुष्टि एवं कामना की पूर्ति के लिए कर्म करता है किंतु कर्मयोगी भक्त अर्न्तप्रेरणा तथा प्रभुप्रेरणा से कर्म करता है। ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय कर्म के प्रवर्तक है अर्थात् इनके संयोग से कर्म में प्रवृत्ति होती है। जो कर्त्तव्य–कर्म आसक्ति रहित होकर फलकामना त्यागकर तथा राग–द्वेष से मुक्त होकर किया जाता है, वही

सात्विक है। सात्विक कर्त्ता प्रवाहतित (अपने मार्ग में आये हुए) कर्म को ईश्वरप्रदत्त एवं ईश्वरप्रेरित मानकर करता है। बुद्धि और घृति–धारणा–शक्ति, दृढ़ता और धैर्य भी तीन प्रकार की होती है। सात्विक बुद्धि होने पर मनुष्य कर्म में प्रवृत्ति तथा कर्म से निवृत्ति, कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य, भय तथा अभय और कर्म बन्धन तथा मोक्ष के मर्म को जान लेता है। अर्थव्यवस्था का दृढ़ होना तथा न्याय पर आधारित होना समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। समाज की उन्नति सभी अंगों के समान विकास तथा परस्पर सहयोग पर आधारित है। कर्मयोग के अन्तर्गत स्वधर्म पालन करना अर्थात् अपना स्वाभाविक कर्म करना भगवान की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। स्वधर्म का निर्णय अपनी चेतना के विकास के अनुरूप ही होना चाहिए। अपने–अपने कर्मों में निष्ठा रखना संसिद्धि अर्थात् पूर्णता प्राप्ति का साधन है।[23]

अंत टिप्पणी

1. *भागवत माहात्म्य (पद्मपुराण उत्तर खण्ड के अंतर्गत) भागवत की भूमिका में 1/6/80; ''तेनेय वाङमयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तत हरेः ''– भागवत माहात्म्य – 1/3/62*
2. *'' एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।।'' राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्। शासतोअन्यान् यथा शास्त्रमनापद्युव्यथानिह।। – भागवत – 1/17/11, 16*
3. *''वितमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः। धर्मन्याय व्यवस्थायां कारण बलमेव हि।। 2।।* अवृत्या न्यायदौर्बल्यां *पाणिडत्ये चापलं वचः।। 4।। – भागवत –12/2/2, 4*
4. *वही – 12/2/3 –13*
5. *वही – 4/18/30; 4/22/54–59*
6. *भगवद गीता – 7/2; 9/1, 2*
7. *वही 4/10; 5/19, 20; 7/18; 12/4; 11/54–55*
8. *वही 18/41–47*
9. *वही 6/32*
10. *वही 4/7–8*
11. *वही 3/10*
12. *वही 4/24–30*
13. *वही 3/35*
14. *वही 6/32*
15. *वही 16/1,2,3*
16. *वही 16/4, 7–21*
17. *वही 16/24*
18. *वही 18/56–58*
19. *शिवानंद ''गीता रसामृत'', पृ. 596, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1997*
20. *वही, पृ. 596*
21. *गीता 13/17*
22. *महाभारत ''उद्योगपर्व'' 9/68*
23. *शिवानंद ''गीता रसामृत'', पृ. 616–617*